

उच्च शिक्षा पर सवार बाजार

□ डॉ. मुनीन्द्र

लगभग हर क्षेत्र में मार करने के बाद बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने उच्च शिक्षा पर नजर गड़ाई है। मतलब यह है कि आने वाले दिनों में विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में तालीम हासिल करना सबके बूते की बात नहीं रह जायेगी। सरकार भले ही इसे शैक्षणिक पुर्नजागरण कहे और आर्थिक बहाने बनाये। पर सच्चाई यही है कि विश्व बैंक और मुद्राकोष के घातक नुस्खे अब परिसरों में आजमाये जायेंगे। यानि उच्च शिक्षा के लिए राज्य सहायता और अनुदान बन्द किये जायेंगे। विश्वविद्यालयों को अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए कहा जायेगा और इसका बोझ उठायेंगे हम। लेकिन सरकार द्वारा अपनी मंशा स्पष्ट किये जाने के बावजूद परिसरों में कोई बैचेनी, कोई सुगबुगाहट नहीं दिखती, क्यों ?

रांची विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. एल. सी.सी. एन. शाहदेव को विश्वविद्यालय के कालेजो में शिक्षकों की नियुक्ति में अनियमितता बरतने के आरोप में सतकर्ता विभाग ने पिछले दिनों में गिरफ्तार कर पटना की उसी बेऊर जेल में भेज दिया है जहां चारा घोटाले के अभियुक्त बंद हैं। दूसरी ओर, मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति के खिलाफ आय से अधिक संपत्ति बटोरने एवं अपनी बेटी को फर्जी प्रमाणपत्रों के आधार पर दिल्ली में सरकारी नौकरी देने जैसे अन्य कई संगीन आरोपों के सिलसिले में सी. बी. आई. ने आरोप दर्ज किया। बिहार में ही राज्य के शिक्षा मंत्री रहे जय प्रकाश नारायण यादव से लेकर मिथिला विश्वविद्यालय के कुलपति समेत दर्जनों अधिकारी बी. एड. दाखिला घोटाला कांड में अभियुक्त बनाये गये हैं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अपनी ईमानदारी के लिए जाने जाने वाले प्रो. मण्डल ने आत्महत्या कर ली। आत्महत्या से पूर्व लिखी अपनी चिट्ठी में उन्होंने लिखा कि वे अपने ऊपर बदनामी का दाग लेकर रिटायर नहीं होना चाहते। मामला यह था कि विश्वविद्यालय की सांस्कृतिक समिति की संयोजक के नाते प्रो. मण्डल ने विभिन्न विभागों को कार्यक्रमों के आयोजन के लिए पांच लाख रुपये की राशि बांटी थी, वे पिछले साल भर से उसका हिसाब मांग रहे थे। लेकिन संबंधित विभागों ने कोई जबाव नहीं दिया। प्रो. मंडल पत्र लिख लिख कर हार गए, रिटायर होने का समय करीब आ गया और स्थिति यह हो गई कि अगर वे उन पैसों का हिसाब विश्वविद्यालय को नहीं देते तो न सिर्फ उनकी पेंशन रुक जाती बल्कि दूसरे भुगतान भी नहीं होते। भावुक हो और इस स्थिति से परेशान होकर प्रो. मंडल ने आत्महत्या कर ली। लेकिन इस घटना के कई महीने बाद भी विश्वविद्यालय की स्थिति को देखकर यही लगता है जैसे किसी की सेहत पर कोई फर्क नहीं

पड़ा। परिसरों से आने वाली ऐसी खबरें पहले बैचेन करती थीं, अब सिर्फ सन्नाटा है।

उच्च शिक्षा को पूरी तरह से बाजार के हवाले करने की तैयारी जोर शोर से की जा रही है। शिक्षा मंत्रालय व यू.जी.सी. के मुताबिक यह फीस वृद्धि इसलिए जरूरी हो गई है कि केन्द्र और राज्य सरकारें उच्च शिक्षा का बढ़ता खर्च उठाने की स्थिति में नहीं रह गई हैं। सरकार के अनुसार उच्च शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक तौर पर प्रसांगिक विविधतापूर्ण गुणवत्ता मूलक और सूचना-तकनीक उन्मुख बनाने के लिए जितने बड़े पैमाने पर आर्थिक साधनों की जरूरत है उसे जुटा पाना सरकार की कूवत के बाहर है। इसलिए बाहरी स्रोतों से साधन जुटाने पर जोर दिया जाना चाहिये।” देखा आपने यहां कितनी बारीकी से उच्च शिक्षा में सुधार के सवाल को बड़े पैमाने पर आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता से जोड़ दिया गया। सचमुच, शैक्षणिक दुर्व्यवस्था कितने काम की साबित हुई, ठीक वैसे ही जैसे सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों का बढ़ता घाटा और कुप्रबंधन उनके निजीकरण का तर्क गढ़ने के काम आये।

अन्यथा यह कोई आज की बात नहीं। 1991 में आर्थिक सुधारों की शुरुआत के बाद से ही यह बात साफ हो गई कि सरकार उच्च शिक्षा का खर्च उठाने के लिए तैयार नहीं है। उसी समय से मंत्रियों, नौकरशाहों से लेकर शिक्षाविदों का एक तबका उच्च शिक्षा पर किये जा रहे खर्च को अनउत्पादक और निरर्थक सब्सिडी बताते हुए विश्वविद्यालयों को अपने पैरों पर खड़ा होने का उपदेश देता रहा। पिछले दिनों के एक आला अफसर ने इसे निर्मम तरीके से समझाते हुए कहा कि जनाब ! जब गरीबों और किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी को खत्म किया जा रहा है तो सफेद हाथी बन गए विश्वविद्यालयों को छोड़ दिया जायेगा, इस भ्रम में मत रहियो सरकार अब इस हाथी का खर्च उठाने के लिए कतई तैयार नहीं है।

जाहिर है कि आर्थिक सुधारों का दूसरा चरण शुरू हो चुका है । इसकी गाज उच्च शिक्षा पर भी गिरनी तय है । सरकार चाहती है कि विश्वविद्यालय स्वयं बाजार में खड़ा होने के लायक बने और सरकारी अनुदानों पर निर्भरता कम करें ।

सरकार से आ रहे संकेतों को समझते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने पिछले वर्ष जहां केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक शुल्क ढांचे की समीक्षा के लिए अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति महमूदरहमान की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया था । वहीं दिल्ली विश्वविद्यालय से संबद्ध कालेजों में अनुरक्षण व्यय की समीक्षा के लिए अन्नादुरैई विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. आनन्द कृष्णन की अध्यक्षता में की गई दूसरी समिति का गठन कर इस दिशा में ठोस पहल की थी । इन दोनों समितियों की रिपोर्ट यू. जी. सी. को मिल चुकी है और खबरों के मुताबिक शिक्षा मंत्रालय व यू.जी.सी. की एक उप समिति इस रिपोर्ट के आधार पर विश्वविद्यालयों के फीस के ढांचे का मसौदा तय कर रही है । इस मसौदे के मुताबिक विश्वविद्यालयों और कालेजों को इसी सत्र में अपनी अनुरक्षण बचत का कम से कम सात प्रतिशत तक अपने आंतरिक स्रोतों से जुटाना होगा और प्रतिवर्ष इसमें एक प्रतिशत की वृद्धि करते हुए इसे 15 प्रतिशत तक पहुंचाना होगा । जाहिर है कि यह इतना आसान नहीं होगा क्योंकि अगर दिल्ली विश्वविद्यालय का सालाना अनुरक्षण बजट 100 करोड़ रुपये हैं तो इस फारमूले के मुताबिक उसे 7 करोड़ रुपये अपने आन्तरिक स्रोतों से जुटाना पड़ेगा । ये बोझ सीधे विद्यार्थियों पर पड़ेगा क्योंकि विश्वविद्यालयों के पास, आंतरिक स्रोत के रूप में उनके अलावा और कोई ऐसा स्रोत नहीं है जो इस बोझ को उठा सके ।

वैसे शिक्षा मंत्रालय चाहे तो यह श्रेय ले सकता है कि उसने यू. जी. सी. द्वारा गठित दोनों समितियों द्वारा सुझाये गये फारमूले को पूरी तरह स्वीकार न करके विद्यार्थियों पर पड़ने जा रहे बोझ को एक हद तक हल्का और सहनीय बनाने की कोशिश की है । रहमान समिति ने तो विश्वविद्यालयों को अगले पांच वर्षों में अपने सालाना अनुरक्षण व्यय का कम से कम 15 प्रतिशत और अगले 10 वर्षों

में 25 प्रतिशत अपने आंतरिक संसाधनों से जुटाने का लक्ष्य रखने को कहा था । समिति ने इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए विश्वविद्यालयों को कई सुझाव भी दिये थे । उनमें से प्रमुख सुझाव ये हैं :

- एक विद्यार्थी पर आ रही संपूर्ण शैक्षणिक लागत को शिक्षण शुल्क के बतौर वसूला जाना चाहिये । इसके लिए शिक्षण शुल्क को तत्काल कम से कम तीन गुणा बढ़ाया जाना चाहिये । 1992 न्यायमूर्ति के. पुनैया की अध्यक्षता में गठित एक उपसमिति ने मानविकी के छात्रों पर प्रति छात्र 22 हजार और विज्ञान के छात्रों पर 32 हजार रुपये की शैक्षणिक लागत का अनुमान लगाया गया था । रहमान समिति की सिफारिश के मुताबिक यह खर्च विद्यार्थियों को उठाना चाहिये ।

- परीक्षा को शुल्क को कम से कम दुगुने से लेकर तीन गुने तक तत्काल बढ़ाया जाना चाहिये । पंजीकरण शुल्क को 5 गुने से लेकर 10 गुना तक बढ़ाया जाये ।

- छात्रावास शुल्क के बतौर एक बिस्तर वाले कमरे के मौजूदा शुल्क 385 रुपये सालाना को अविलम्ब बढ़ाकर न्यूनतम एक हजार रुपये मासिक कर देना चाहिये । मैस के कर्मचारियों व फर्नीचर/ प्रयोगशाला पर हो रहे वास्तविक व्यय

को भी पूरी तरह से विद्यार्थियों को ही उठाना चाहिये ।

रहमान समिति के मुताबिक विद्यार्थियों के शैक्षणिक व अन्य दूसरे शुल्कों में वृद्धि का उपरोक्त प्रस्ताव न्यूनतम वृद्धि को इंगित करता है । और विश्वविद्यालय चाहें तो इससे अधिक भी वसूल कर सकते हैं । लेकिन इससे कम तो वे किसी भी हालात में नहीं कर सकते । समिति का सुझाव है कि इस शुल्क वृद्धि को लागू करना सभी विश्वविद्यालयों के लिए कानूनन अनिवार्य किया जाना चाहिये । ताकि कोई विश्वविद्यालय या कालेज इस या उस बहाने शुल्क वृद्धि के अलोकप्रिय फैसले से पीछे न हट सके ।

रहमान और आनन्द कृष्णन समितियों ने इस शुल्क वृद्धि के पक्ष में कई कारण भी गिनाये हैं । उनके मुताबिक उच्च शिक्षा के बेरोक टोक फैलाव ने न केवल इसे बहुत खर्चीला बना दिया है बल्कि इस पर आने वाली लागत भी तेजी से बढ़ी है । दूसरी ओर,

उच्च शिक्षा के बजट में कटौती इसलिए नहीं की जा रही है कि उसे प्राथमिक शिक्षा पर खर्च किया जाएगा बल्कि यह कटौती तो वित्तीय घाटे को काबू में रखने के लिए की जा रही है तीसरी बात यह है कि आज से एक दो दशक पहले तक भले ही उच्च शिक्षा पर संपन्न वर्गों का कब्जा था, लेकिन अब तो पिछले कुछ वर्षों से समाज के कमजोर तबकों, पिछड़ों दलितों अल्पसंख्यकों और महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा परिसरों में पहुंच रहा है । उच्च शिक्षा सामाजिक आर्थिक-सांस्कृतिक उर्ध्वगामी गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण माध्यम है ।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में लोकोपकारी गतिविधियों यानी सेठ-साहूकारों व राजा महाराजाओं से मिलने वाली रकम में बहुत तेजी से गिरावट आई है और इस सबका सम्मिलित परिणाम यह हुआ है कि सरकार अकेले दम पर उच्च शिक्षा का खर्च उठाने की स्थिति में नहीं रह गई है। इसके अलावा शिक्षा में व्यय के लिए उपलब्ध सीमित संसाधनों को उच्च शिक्षा के बजाय प्राथमिक शिक्षा के प्रचार पर खर्च करना सामाजिक, आर्थिक और मानवीय कारणों से ज्यादा जरूरी और उपयोगी है। पुत्रैया समिति ने इस दशक से शुरुआत में ही शुल्क वृद्धि को जायज और जरूरी बताने के लिए ऐसा ही तर्क गढ़ा था। पुत्रैया समिति के अनुसार 'कोई भी समाज जो गरीबी और गैर बराबरी से जूझ रहा हो वह विश्वविद्यालयों में हो रही फिजूलखर्ची के सब्सिडीकरण का समर्थन नहीं कर सकता या संपन्न तबकों को उच्च शिक्षा पर हो रहे खर्च के भुगतान से बचे रहने की इजाजत नहीं दे सकता है। इसीलिए उच्च शिक्षा पर हो रहे वास्तविक खर्च का बड़ा हिस्सा उनसे वसूला जाना चाहिये जो उसे दे सकने की स्थिति में हों।

है न जोरदार तर्क। लेकिन ऊपर से जोरदार लगने के बावजूद मूलतः यह बाजार अर्थव्यवस्था का ही तर्क है। पिछले कुछ वर्षों में इस बाजार तर्क की स्वीकार्यता तेजी से बढ़ी है। खासकर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक सरकार के मुकदमें में 'केपीटेशन फीस' को पैमेन्ट सीटें बतौर नियमित करने के बाद से तो शिक्षाविदों व बौद्धिकों का एक बड़ा तबका, यहां तक की विद्यार्थी परिषद जैसे छात्र संगठन भी इस बाजार तर्क के पक्ष में खड़े दिखाई पड़ने लगे हैं। वैसे यह तर्क नया नहीं है। विश्व बैंक लम्बे समय से इसे दोहरा रहा है। विश्व बैंक ने 1994 के अपने एक दस्तावेज "उच्च शिक्षा: अनुभवों से प्राप्त सबक" में स्पष्ट रूप से कहा था कि बेशक यह कहना तार्किक लगता है कि उन विकासशील देशों में जिन्होंने अब तक प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में पर्याप्त गुणवत्ता समानता और अपेक्षित उपलब्धता हासिल नहीं की है, वहां उपलब्ध सार्वजनिक संसाधनों पर उच्च शिक्षा को प्राथमिकता का दावा नहीं करना चाहिए। ऐसा इसलिए कि आमतौर पर प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा में किये जाने वाले निवेश का सामाजिक लाभ उच्च शिक्षा में किये जाने वाले निवेश से कहीं ज्यादा होता है। इसलिए

आश्चर्य की बात नहीं है कि विश्व बैंक की यह तर्क प्रणाली और उसके सुझाव पुत्रैया समिति से लेकर रहमान और आनंदकृष्णन समितियों तक की रिपोर्टों। में ज्यों के त्यों स्वीकार कर पेश कर दिये गये हैं।

इन तर्कों की सबसे बड़ी खासियत यह है कि वे समाजवादी जुमलों का बखूबी इस्तेमाल करते हैं। जैसे यह कहना कि उच्च शिक्षा तक वस्तुतः समाज के संपन्न वर्गों की ही पहुंच है और इसलिए उनका शिक्षा के लिए सब्सिडी प्रदान करना गैर बराबरी बढ़ाने वाला न कि समतावादी कदम है। विश्वविद्यालयों कालेजों में पहुंचने वाले छात्र जितना एक दिन में कैंटीन में तफरीह पर खर्च कर देते हैं, उससे भी कम वे पूरे महीने की फीस चुकाने में खर्च करते हैं। दूसरी ओर, लाखों गरीब बच्चों को प्राथमिक शिक्षा भी नसीब नहीं है। ऐसे में उच्च शिक्षा पर खर्च कीमती राष्ट्रीय संसाधनों का अपव्यय है। अगर यही पैसा प्राथमिक शिक्षा पर खर्च हो तो उसके परिणाम समतावादी होंगे। ऐसे और इससे मिलते जुलते बहुतेरे तर्क इन दिनों सरकार, यूजीसी और शिक्षाविदों के एक बड़े तबके द्वारा पेश किये जा रहे हैं और जाहिर है कि समाज का एक बड़ा हिस्सा इसके झांसे में भी आ रहा है

वे अब राष्ट्रीय पुर्नजागरण के केन्द्र नहीं रह गये हैं, उनमें आप राष्ट्रीय पतन के प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। उन्हें बाजार के हवाले कर देने से शैक्षणिक पुर्नजागरण का सवेरा आ जायेगा, ऐसा सोचने वाले एक आत्मघाती भूल कर रहे हैं। चलिये वे तो भूल कर रहे हैं लेकिन खतरे की घंटी बजने के बावजूद परिसरों में चुप्पी क्यों है? क्या परिसर ने भी बाजार को अपनी नियति के बतौर स्वीकार करने की मनःस्थिति बना ली है ?

लेकिन सच्चाई क्या है? पहली बात तो यह है कि यह तर्क ही अपने आप में अत्यंत असंगत और दोषपूर्ण है कि एक की कीमत पर ही दूसरा विकसित हो सकता है। अगर यह मान भी लें कि उच्च शिक्षा अब तक प्राथमिक शिक्षा की कीमत पर विकसित हुई है तो प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए अब उच्च शिक्षा की बलि चढ़ाने का तर्क उतना ही अवविवेकपूर्ण और घातक गलती होगी। दूसरी बात यह है कि उच्च शिक्षा के बजट में कटौती इसलिए नहीं की जा रही है कि उसे प्राथमिक शिक्षा पर खर्च किया जाएगा बल्कि यह कटौती तो वित्तीय घाटे को काबू में रखने के लिए की जा रही है तीसरी बात यह है कि आज से एक दो दशक पहले तक भले ही उच्च शिक्षा पर संपन्न वर्गों का कब्जा था, लेकिन अब तो पिछले कुछ वर्षों से समाज के कमजोर तबकों, पिछड़ों दलितों अल्पसंख्यकों और महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा परिसरों में पहुंच रहा है। उच्च शिक्षा सामाजिक आर्थिक-सांस्कृतिक उर्ध्वगामी गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

सवाल यह भी है कि रहमान समिति के सुझावों के अनुरूप फीस में वृद्धि किये जाने की स्थिति में कितने छात्रों में इसे चुकाने की क्षमता होगी ? भारतीय विश्वविद्यालय संघ द्वारा इस सिलसिले में किये गये एक अध्ययन की रिपोर्ट के मुताबिक 30 प्रतिशत से भी कम छात्र बढ़ी हुई फीसों का बोझ उठाने की स्थिति में है । यही नहीं अगर थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाए कि सभी छात्र बढ़ी हुई फीसें चुका देंगे तो भी विश्वविद्यालयों के सामने जो आर्थिक संकट मुंह बाये खड़ा है वह खत्म होने वाला नहीं है । मान लीजिए कि बी एच यू को सालाना 120 करोड़ रुपये का बजट मिलता है। अगर उसे इसका 7 प्रतिशत तत्काल अपने आंतरिक स्रोतों से जुटाना पड़े तो यह रकम 8.4 करोड़ रुपये होगी और उसके कुल 13 हजार विद्यार्थियों पर यह रकम प्रति विद्यार्थी लगभग 3400 रुपये पड़ेगी । यह रकम क्रमशः बढ़ते बढ़ते 13 हजार रुपये तक पहुंच जायेगी । क्योंकि बी एच यू के सामने आने वाले वर्षों में लक्ष्य अपने कुल बजट का 15 प्रतिशत यानी 18 करोड़ रुपये जुटाने का है -

जाहिर है कि अकेले विद्यार्थियों से फीस वसूलकर विश्वविद्यालयों के आर्थिक संकट का हल नहीं निकलने वाला है क्योंकि फीस वसूलने और उसे चुका सकने के बीच एक संतुलन बैठाना भी जरूरी है । फिर रास्ता क्या है ?

सरकार ऐसा कोई आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं है कि वह विश्वविद्यालयों को उनके बजट का बाकी 85 प्रतिशत उपलब्ध कराती रहेगी । हालांकि दुनिया के तमाम विकसित और महत्वपूर्ण विकासशील देशों में सरकार ही उच्च शिक्षा के बजट का बड़ा हिस्सा उपलब्ध कराती है लेकिन हमारी सरकार व यूजीसी बहुत आसानी से इसे भुला देते हैं कि उच्च शिक्षा हर स्थिति में प्राथमिक तौर पर सरकार की ही जिम्मेदारी है । यह एक ऐसा सामाजिक आर्थिक निवेश है जिसके बाबत विश्व बैंक भी 1998-99 की अपनी सालाना रिपोर्ट में स्वीकार करता है कि उन देशों में जीडीपी की विकास दर तुलनात्मक रूप से उन देशों के मुकाबले ज्यादा तीव्र गति से बढ़ती देखी गयी है जहां उच्च शिक्षा का व्यापक प्रसार संभव हुआ है । अगर आज भारत सूचना तकनीक और विज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा में अगली कतार में दिखायी पड रहा है तो क्या यह उच्च शिक्षा के मौजूदा विकास व प्रसार के अभाव में संभव हो पाता ?

लेकिन सरकार के रवैये को देखते हुए लगता नहीं है कि वह इन सब प्रश्नों पर विचार के लिए तैयार है। वह तो आंख मूंदकर विश्व बैंक के नुस्खे को लागू करने की जिद ठाने बैठी है । इस कारण विश्वविद्यालयों को अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए यूजीसी

आंतरिक संसाधन जुटाने के और कई तौर-तरीके सुझा रहा है । इनमें से एक सुझाव यह है कि विश्वविद्यालय अपनी ढांचा गत सुविधाओं सभा, सम्मेलन कक्ष व भवन, खाली समय में क्लास रूम, खेल के मैदान, अतिथि गृह, कम्प्यूटर सेवार्यें, छात्रावास आदि को किराये पर उठाये ।

व्यावसायिक शिक्षा के अल्पकालिक कोर्सेज के जरिये ज्यादा से ज्यादा आय बटोरें । उद्योगों के सलाहकार सेवार्यें और शोध सुविधायें देकर फीस वसूलें । गरज यह कि विश्वविद्यालय वे सभी तौर-तरीके इस्तेमाल करें जिनसे आय हो सकती हो, भले ही इस चक्कर में शिक्षण और शोध के मूल उद्देश्य की उपेक्षा क्यों न हो । उदाहरण के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है । आज हर शहर में व्यावसायिक और रोजगारोन्मुख शिक्षा की देशी-विदेशी निजी दुकानें कुकुरमुत्तों की तरह उग आयी हैं जिन्हें उपयुक्त ढांचागत सुविधाओं, योग्य व प्रशिक्षित अध्यापकों के अभाव के बावजूद सरकार ने मान्यता भी दे दी है और जहां पढ़ाई के नाम पर सिर्फ सर्टिफिकेट बांटे जा रहे हैं । सरकार और यूजीसी विश्वविद्यालयों को इसी पद्धति पर विकसित करना चाहते हैं ।

जाहिर है कि ऐसे विश्वविद्यालयों/कालेजों में जोर व्यावसायिक शिक्षा के कोर्सेज पर ज्यादा होगा और इस प्रक्रिया में मानविकी, समाज विज्ञान और विज्ञान की बुनियादी शिक्षा को उपेक्षित कर दिया जायेगा । लम्बी अवधि में इसका खामियाजा देश को चुकाना होगा। अभी तो इसकी चिन्ता सरकार को नहीं है क्योंकि उसकी चिन्ताओं का निर्धारण विश्व बैंक - मुद्रा कोष कर रहे हैं । जिनके अनुसार भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती वित्तीय घाटे को काबू में करने की है । चूंकि यह सारी कसरत इसी चिन्ता से उपजी है इसलिए उसमें विश्वविद्यालयों की मौजूदा शैक्षणिक दुर्व्यवस्था और पतन को रोकने की कोई इच्छा या प्रेरणा नहीं दिखाई पड़ती है । कुछ चुनिन्दा विश्वविद्यालयों व कालेजों को छोड़ दिया जाये जिनकी सूची गाहे-बगाहे गुलाबी पत्रिकायें छापती रहती हैं तो बाकी अधिकांश में अध्ययन-अध्यापन और शोध के अलावा वह सब कुछ हो रहा है जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं ।

वे अब राष्ट्रीय पुर्नजागरण के केन्द्र नहीं रह गये हैं, उनमें आप राष्ट्रीय पतन के प्रतिबिम्ब देख सकते हैं । उन्हें बाजार के हवाले कर देने से शैक्षणिक पुर्नजागरण का सवेरा आ जायेगा, ऐसा सोचने वाले एक आत्मघाती भूल कर रहे हैं । चलिये वे तो भूल कर रहे हैं लेकिन खतरे की घंटी बजने के बावजूद परिसरों में चुप्पी क्यों है? क्या परिसर ने भी बाजार को अपनी नियति के बतौर स्वीकार करने की मनःस्थिति बना ली है ? ♦